निबंध

I know of no other instrument so potentially powerful and full of social purpose as the co-operative movement **- Smt. Indira Gandhi.**

सुपरमार्केट संस्कृति में उपभोक्ता सहकारिताओं की उत्तरजीविता समस्याएं और रणनीतियां

—ओमप्रकाश कश्यप

उपभोक्ता सहकारिता से हमारा आशय लोकोपयोगी वस्तुओं के विपणन में लगे परस्पर सहयोगाधारित व्यावसायिक संगठनों से है, जो सहकल्याण के ध्येय से सहकारिता के सिद्धांत के आधार पर संगठित होते हैं. ऐसे संगठनों में व्यावसायिक नैतिकता के उच्चतम मापदंडों का पालन करते हुए अधिलाभ में सदस्यों की हिस्सेदारी की न्यायिक व्यवस्था की जाती है. सहकारिता की भावना आर्थिक एवं सामाजिक लाभों का समन्वयीकरण करते हुए, उपभोक्ता एवं विक्रेता के बीच के द्वैत को न्यूनतम स्तर पर रखकर, उनके बीच अपनत्व की भावना का संचार करती है. यह स्थिति सामाजिक अंतर्द्वंद्वों का शमन करते हुए समूह को विकास की ओर अग्रसर कर देती है. सहकारिता में लोकतंत्र एवं समाजवाद दोनों के आदर्श समाहित हैं, अतः सहकार-प्रेरित विकास नैतिकता के उच्चादर्शों से अनुपूरित होता है.

आधुनिक उपभोक्ता सहकारिता आंदोलन की शुरुआत इंग्लेंड के रोशडेल नामक कस्बे से हुई थी. उससे पहले भारत में 'श्रेणी', जर्मनी में 'किबुत्ज', यूरोपीय देशों में 'गिल्ड' जैसे परस्पर सहयोगाधारित व्यावसायिक संगठन थे, जो राष्ट्रीय-अंतराष्ट्रीय स्तर पर व्यापार करते थे. उनीसवीं शताब्दी में उपभोक्ता सहकारिताओं को मिली अप्रत्याशित सफलता वस्तुतः प्रौद्योगिकीय सुधारों के कारण उत्पादन व्यवस्था में आए भारी बदलावों एवं तज्जनित आर्थिक असमानता की देन थी. वस्तुतः सोलहवीं शताब्दी की वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक क्रांति ने तीव्र औद्योगिकीकरण को जन्म दिया था. अत्याधुनिक तकनीक के रूप में पूंजीपति वर्ग के हाथों में अलादीन का ऐसा चिराग आ गया था, जिससे दक्ष शिल्पकारों के सहयोग के बिना भी वे भारी मुनाफा कमा सकते थे। समाज की पूंजी कुछ हाथों में सिमटने लगी थी. इसका परिणाम उनीसवीं शताब्दी के अराजक पूंजीवाद के रूप में हुआ. उसने समाज को दो हिस्सों में बांट दिया. उसके एक और भयंकर गरीबी थी, तो दूसरी ओर अमीरी ही अमीरी. दोनों के बीच की खाई उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही थी. मजदूरों के हाथ से रोजगार फिसलते जा रहे थे. पूंजीपति मनमाना लाभ वसूलते थे. दुकानदार जल्दी से जल्दी अमीर हो जाने की चाहत में मिलावटयुक्त सामान बेचते थे. इन सबके बीच पिसते आ रहे मजदूर वर्ग की हालत दयनीय हो चली थी. जॉनसन ब्रिशैल ने उस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

'चारों ओर से मिलने वाली रिपोर्टें बताती थीं कि उनके (बुनकरों के) घर का सारा साज-सामान, फर्नीचर आदि बिक चुका था। पहनने को केवल चिथड़े नसीब होते थे। प्रतिदिन सोलह-सोलह घंटे लगातार मेहनत करने वाले कारीगरों का इतना बुरा हाल था कि उन्हें आलू, प्याज, शकरकंद, दलिया, शीरे जैसी चीजों के सहारे पेट भरना पड़ता था।'[1] **ब्रिशेल आगे लिखते हैं—**

'अपने एकमात्र वस्त्रों को गंदगी से बचाने के लिए औरतें, बच्चे को जन्म देते समय अपने दोनों हाथ ऊपर उठा, दो अन्य औरतों के कंधें का सहारा लेकर खड़ी हो जाती थीं। उसी अवस्था में वे बच्चे को जन्म देती थीं। जो बुनकर अपनी बेमिसाल कारीगरी के पूरी दुनिया में जाने जाते थे, जो अपना समस्त जीवन पूरी दुनिया के लिए कपड़ा, बिस्तर आदि बुनने में लगा देते थे, उनके अपने शरीर पर फटे चिथड़े और बिस्तर पर गंदे तौलिये पड़े होते थे।'[2]

पूंजीवाद के वर्चस्व एवं उसकी मनमानियों के प्रति जहां लोगों में जनाक्रोश फैल रहा था, वहीं उसके विरुद्ध आवाजें भी उठने लगीं थीं. वुद्धिजीवियों का एक वर्ग पूंजीवाद के दुष्प्रभावों से जनता को बचाने के लिए जनजागरण के काम में जुटा हुआ था. 1830 में डॉ. विलियम किंग ने पूंजीवाद को एक सामाजिक बुराई मानते हुए अपने समाचारपत्र 'दि को-ऑपरेटर' लिखा था—**'इस व्याधि से बचा जा सकता है, उपचार हमारे हाथों में है; और वह उपचार है सहकारिता।**[3] राबर्ट ओवेन, चार्ल्स डिकेन्स, विलियम किंग, फ्यूरियर आदि की प्रेरणा पर इंग्लेंड के रोशडेल

नामक कस्बे के 28 बुनकरों ने मिलकर रोशडेल इक्वीट्वेल पायनियर्स सोसाइटी की स्थापना की, जिसके तत्वावधान में 21 दिसंबर 1844 को उपभोक्ता भंडार की शुरुआत की गई. प्रारंभ में लोगों ने 'बुनकरों की दुकान' कहकर रोशडेल पायनियर्स के प्रयास की हंसी उड़ाई, लेकिन बाद में उन्हें मिली चामत्कारिक सफलता ने इस आंदोलन को आगे ले जाने में मदद की. हॉल्योकी ने अपनी पुस्तक 'रोशडेल पायनियर्स का इतिहास' में रोशडेल पायनियर्स के उपभोक्ता भंडार की कार्यशैली का प्रामाणिक एवं सुंदर वर्णन किया है, जो सुनने में चामत्कारिक और किसी रोमांचकारी गल्प का हिस्सा लगता है–

'ठीक सात बजे स्टोर ग्राहकों के लिए खुल जाता था। उसके खुलते ही काउंटर के एक ओर पांच सेल्समैन ग्राहकों की सेवा के लिए तत्पर नजर आते। उनके मुस्कुराते हुए चेहरे ग्राहकों के चेहरों को आमंत्रित करते दिखाई पड़ते। एक लड़का चाशनी तैयार करता रहता। दो छिटपुट सामान तौलने में व्यस्त रहते। बाकी लड़कों का कार्य तेजी से खाली होते जा रहे रैकों पर जरूरी सामान की आपूर्ति करना था। उपभोक्ता भंडार में बारह फुट लंबा दोतरफा काउंटर था। उसके एक ओर सदस्यों की पत्नियां, बच्चे, वृद्ध जितने कि उस दुकान में समा सकें, सामान खरीदने के लिए कतारबद्ध खड़े हो जाते। बाकी दरवाजे के बाहर आपस में बातचीत करते हुए अपना नंबर आने की प्रतीक्षा में रहते। उस काउंटर के ठीक सामने कपड़े की दुकान पर तैनात, तीन सेल्समैन नौ-दस ग्राहकों जिनमें मुख्यतः महिलाएं होती थीं, की सेवा में तत्पर होते। स्त्रियां अपने बच्चों के साथ कपड़ों के चयन में व्यस्त नजर आती थीं। बराबर में मौजूद बड़े उपभोक्ता भंडार में तीन व्यक्ति ग्राहकों के लिए मांस तैयार करने में जुटे होते। कम से कम बारह से पंद्रह ग्राहक सदैव उस काउंटर पर नजर आते थे। उसी दुकान में दो अलग सेल्समैन आटा, आलू, दाल, चीनी आदि खरीदने आए ग्राहकों की सेवा में लगे होते थे....भंडार में व्यक्तिगत खातों के रख-रखाव, उसके रोजाना के व्यवसाय के हिसाब-किताब के लिए एक लिपिक हर समय तैनात रहता था, जो प्रत्येक ग्राहक द्वारा खरीदे गए सामान को एक रजिस्टर में दर्ज करता जाता था; ताकि भंडार से निर्धारित अवधि के बीच खरीदे गए सामान के आधार पर ग्राहकों के अधिलाभ की गणना की जा सके...शहर के दूसरे इलाकों में भंडार की चार शाखाएं थीं, जहां कमोबेश यही प्रबंध किए हुए थे.'

वस्तुतः रोशडेल पायनियर्स की सफलता ने न केवल ब्रिटेन बल्कि पूरी दुनिया के सहकारिता आंदोलन के विकास को नई प्रेरणा दी. उनकी तरक्की इतनी बेमिसाल थी कि कालांतर में रोशडेल पायनियर्स को सहकारिता का पर्याय मान लिया गया।

भारत में आधुनिक सहकारिता आंदोलन का आरंभ 1904 ईस्वी में सरकार की प्रेरणा के आधार पर हुआ था. प्रारंभ में केवल ऋण सहकारिताओं को ही मान्यता प्रदान की गई थी. लेकिन बहुत जल्दी सरकार इस निर्णय पर पहुंच गई की सहकारिता आंदोलन को समग्रता से अपनाए बिना, ऐच्छिक लक्ष्यों की प्राप्ति असंभव ही है. अतएव 1912 में सहकारिता कानून में संशोधन करते हुए ऋण सहकारिता से इतर भी सहकारी समिति बनाने की अनुमति दे दी गई. नया कानून सहकारिता के विकास में सहायक सिद्ध हुआ. उसके अंतर्गत मुंबई तथा मद्रास में उपभोक्ता सहकारी समितियों का गठन किया गया. 1914 में देश में उपभोक्ता सहकारिताओं की संख्या 14 थी, जो मात्र छह वर्ष यानी 1920-21 में तेजी से बढ़कर 103 तक पहुंच गई. भारतीय उपभोक्ता सहकारिताओं को असली उछाल दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान प्राप्त हुआ. जिसने इस आंदोलन को नई दिशा दी, परिणामस्वरूप देश-भर में उपभोक्ता सहकारिताएं तेजी से गठित की जाने लगीं. 1950-51 में देशभर में कुल 9757 सहकारी उपभोक्ता भंडार थे. उससे अगले दशक में प्रतिकूल स्थितियों के कारण उपभोक्ता सहकारिताओं की संख्या और उनकी कुल उपलब्धियों में घटत नजर आई. बाद के दशकों में सहकारिता आंदोलन विभिन्न क्षेत्रों में निरंतर वृद्धि करता रहा. वर्तमान में भारत में कुल पंजीकृत सहकारी संस्थाओं की संख्या लगभग 5,35,000, सदस्य संख्या 26.5 है. लेकिन जहां अन्य क्षेत्रों में सहकारिता का विकास तेजी से हो रहा, उपभोक्ता सहकारिताओं की प्रगति लगभग अवरुद्ध सी है. हालांकि मॉल्स संस्कृति के विस्तार के इस दौर में उपभोक्ता सहकारिताओं की प्रासंगिकता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है.

पिछले कुछ दशकों के दौरान स्थितियां तेजी से बदली हैं. आर्थिक उदारीकरण का लाभ उठाते हुए बहुराष्ट्रीय कंपनियां इस देश में अपने पूंजी आधार को बढ़ाने में सफल रही हैं. तेज-तर्रार आधुनिक प्रबंधन, मीडिया के खुले समर्थन तथा राजनीतिक संरक्षण के कारण वे ग्राहकों को आकर्षित करने में सफल रही हैं. बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपने विपुल पूंजी-सामर्थ्य के बल पर भारत और पूरे एशियाई बाजार को अपनी गिरफ्त में लेने को आतुर हैं. अपनी अकूत पूंजी-संपदा पर इतराए पूंजीपतिवर्ग के समस्त प्रयास मनुष्य-मात्र को आत्मकेंद्रित उपभोक्ता में बदल देने का है. जो लोग इस खुशफहमी में हैं कि खुदरा बाजार के ग्रामीणीकरण से ग्रामोद्योगों तथा अन्य भारतीय उद्योगों को भी लाभ पहुंचेगा, उन्हें जितनी जल्दी हो सके, इससे बाहर आ जाना चाहिए. नए खुदरा बाजारों के लिए माल वहीं से खरीदा जाएगा जहां से सस्ता मिलेगा. भले ही इसके लिए सरकार को आयातनीति में बदलाव के लिए बाध्य क्यों न किया जाए. चीन से होने वाले आयात ने हमारे लघु और कुटीर उद्योग क्षेत्र की कमर तोड़कर रख दी है. आगे भी माल की खरीद के लिए चीन की कंपनियों से बातचीत की जा रही है. जो वस्तुएं भारतीय उत्पादक उन्हें सस्ती दे सकते हैं, उन्हें भारतीय अथवा भारत-स्थित उत्पादकों से ही खरीदा जाएगा. जनता के दबाव में रिलायंस फ्रेश को उत्तरप्रदेश में अपने उपभोक्ता भंडार बंद करने

के लिए विवश जरूर होना पड़ा है, अब खबर है कि कंपनी अपने उपभोक्ता भंडारों का ब्रांडिड आभूषण बिक्री केंद्र के रूप कायाकल्प करने जा रही है. पिछले दिनों कंपनी द्वारा हिमाचल प्रदेश में सेव, गुजरात में आम के बाग खरीदे जाने के भी समाचार मिले हैं. देश की सबसे बड़ी सिगरेट निर्माता कंपनी आईटीसी दक्षिणी-पश्चिमी प्रांतों में अनेक वर्षों से यही सब करती आ रही है. उसके देश-भर में चौपाल नाम से साढ़े छह हजार से अधिक उपभोक्ता भंडार हैं, जिन्हें वह किसान सहायता केंद्र के नाम पर चला रही है. कंपनी अपनी विकास योजना के अंतर्गत महानगरों में बड़े उपभोक्ता भंडारों की स्थापना की करने की योजना बना रही है.

अब जरा इसका भी हल्का-सा जायजा लें कि ग्रामीण बाजार में कारपोरेट जगत के हस्तक्षेप के क्या परिणाम होने वाले हैं. देश में गांवों की कुल संख्या करीब छह लाख है. वहां के लोगों की आम जरूरतों की पूर्ति अभी तक छोटे दुकानदार करते आ रहे हैं. इन दुकानदारों की संख्या गांव की जनसंख्या के अनुसार घटती-बढ़ती है. यह बीस से लेकर पचास तक कुछ भी हो सकती है. दुकानदारी समाज के एक वर्ग का पैत्रिक व्यवसाय रही है. लेकिन आजादी के बाद जातीय समीकरण और उनके व्यवसायों में काफी बदलाव आया है. पढ़े-लिखे या साधारण प्रशिक्षित युवा भी नौकरी के अभाव में दुकान खोलकर बैठ जाते हैं. इनमें महिलाओं की संख्या भी काफी है. एक और कारण भी दुकानदारी के व्यवसाय से जुड़ने का यह रहा है कि जो लोग नौकरी के तनावों से बचना तथा स्वावलंबी बने रहना चाहते हैं, उन्हें भी दुकानदारी करना मुफीद लगता है. ध्यान रहे कि जब हम दुकानदारी कह रहे हैं तो हमारा आशय साधारण परचून और किराना दुकानदारों से लेकर हलवाई, नाई, धोबी, प्लंबर आदि विभिन्न सेवाओं में लगे शिल्पकारों, सेवाप्रदाताओं से भी है, जिन्होंने अपनी पेशवर दक्षता के कारण उस व्यवसाय को अपनाया हुआ है. कारपोरेट सेक्टर के निशाने पर छोटे दुकानदारों के अलावा वे सेवाकर्मी भी होंगे जो किसी न किसी रूप में परंपरागत सेवाओं से जुड़े हैं. ऐसे सभी दुकानदारों की कुल संख्या प्रति गांव यदि तीस भी मान ली जाए जो देशभर में लगभग एक करोड़ अस्सी लाख दुकानदार या पेशेवर केवल गांवों में हो सकते हैं. नगरों, महानगरों और कस्बों की संख्या भी कम नहीं हैं. वहां पर यह संख्या यदि डेढ़-दो करोड़ भी हुई तो देश में दुकानदारों एवं परंपरागत सेवाकर्मियों की संख्या तीन से चार करोड़ तक संभव है. इन प्रकार देश के पंद्रह-बीस करोड़ लोग प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से दुकानदारी के पेशे से जुड़े हुए हैं. दूसरे शब्दों में यह एक इकतरफा-सी लड़ाई जरूरतमंदों तथा बड़े दुकानदारों, सरमायेदारों के बीच है, जो व्यावसायिक स्थलों पर बड़े शोरूम खोलकर पूंजी को अपनी ओर खींचने तथा अपने उत्पादों के लिए नई जरूरतें क्रिएट करने का सामर्थ्य रखते हैं.

प्रसिद्ध समाजवादी चिंतक किशन पटनायक के अनुसार राज्य में, राज्य की ही सत्ता-सामर्थ्य सर्वोपरि होने चाहिए. व्यवस्था के लोकतांत्रिक स्वरूप को बनाए रखने के लिए यह अत्यावश्यक है. जबकि अब तो भारत की ही कुछ ऐसी कंपनियां हैं जिनकी कुल हैसियत देश के कई राज्यों की आर्थिक स्थिति से बढ़कर है. उसपर भारत पर धावा बोलने को तैयार वालमार्ट, न्यूबीज, आईटीसी जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का तो कहना ही क्या! अकेली वालमार्ट का सालाना व्यवसाय भारत के कुल सालाना खुदरा बजार, लगभग 350 अरब डॉलर के बराबर है. ऐसी विशालकाय कंपनियां जब हिंदुस्तान आएंगी, तब यहां के छोटे-दुकानदारों, लघु उद्यमियों का क्या होगा, उस वीभत्स स्थिति की केवल कल्पना ही की जा सकती है. यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि बाजार के साथ-साथ उसके संस्कार भी गांवों तक जाएंगे. जिससे सांस्कृतिक प्रदूषण को गति मिलेगी. हालांकि प्रबंधन के आधुनिकतम व्यवस्थाओं के चलते ये गांव जाकर भारतीय समाज के परंपरागत स्वरूप पर भी हमला करेंगी, जिसका सकारात्मक प्रभाव यह हो सकता है कि वह उन जातीय विभदों का शमन करने का काम करे, जो परंपरा से भारतीय समाज के पिछड़ेपन का कारण रहे हैं. तथापि यह भी संभावना है कि तीव्र उपभोक्ताकरण के फलस्वरूप भारतीय समाज की आर्थिक विषमता की और वृद्धि हो. अतएव समय रहते वैकल्पिक उपायों पर विचार किया जाना अत्यावश्यक है. यह भी जरूरी है कि समाज में नागरिकताबोध को विस्तार दिया जाए. ऐसी संस्थाएं खड़ी की जाएं जो स्वयं को बाजार के प्रलोभनों और उनके संसाधनों से दूर रखने का सामर्थ्य रखती हों. बहुराष्ट्रीय औद्योगिक निगमों की मनमानी से निपटने के लिए ऐसा नहीं है कि हमारे पास विकल्पों की कमी है, बल्कि शताब्दियों से आजमाए गए विकल्प है, इनमें एक उपभोक्ता सहकारिताओं को विस्तार देने का है, जिसका संकेत ऊपर किया गया है. परिस्थितियों में उपभोक्ता सहकारिताओं को बचाए रखने के लिए एक व्यापक और दूरगामी प्रयासों की आवश्यकता है. इसके लिए सरकारी और गैरसरकारी दोनों ही स्तर पर संगठित होकर कार्य करना होगा. बहुराष्ट्रीय कंपनियों के वर्चस्व के चलते उपभोक्ता सहकारिताओं को बचाए रखने तथा उन्हें बढ़ावा देने के लिए निम्नलिखित रणनीति को योजनाबद्ध तरीके से अमल में लाया जा सकता है–

- व्यावसायिक दृष्टिकोण
- ब्रांडीकरण
- विश्वसनीयता
- अपनत्व की भावना
- परंपरागत शिल्पकारों, पेशेवरों को लेकर संगठन निर्माण
- समग्र सहकारिता आंदोलन को प्रोत्साहन/प्रशिक्षण

1. व्यावसायिक दृष्टिकोण

बाजार में बने रहने के लिए उसके समीकरणों का अनुपालन आवश्यक है. कोरी आदर्शवादिता से उपभोक्ता सहकारिताओं को दीर्घजीवी नहीं बनाया जा सकता. वैसे भी आज के बाजार पहले की अपेक्षा कहीं अधिक चुनौतीपूर्ण हैं. आधुनिक पूंजीवादी कंपनियां किसी उत्पाद को बाजार में उतारने से पहले उसके बारे में उपभोक्ताओं से राय लेती हैं. उसके विश्लेषण के बाद पूर्णतः योजनाबद्ध तरीके से अपने उत्पाद को बाजार में उतारा जाता है. उत्पाद को बाजार में उतारने के बाद भी उनके बारे में उपभोक्ताओं की प्रतिक्रिया, बिक्री बाद मदद के लिए भी वे तैयार रहती हैं. इससे उपभोक्ता के मन में उत्पाद के साथ-साथ कंपनी की विश्वसनीयता भी स्थापित हो जाती है, जो उत्पाद के बाजार के विस्तार तथा भविष्य में नई योजनाओं के कार्यान्वन के समय काम आती है. निश्चित रूप से इन सब कार्यों के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता पड़ती है. पूंजीवादी कंपनियों का पूंजी-आधार चूंकि विस्तृत होता है, अतएव वे अत्याधुनिक तरीकों तथा कुशल पेशेवरों की मदद से अपने कार्य को कुशलतापूर्वक अंजाम देती हैं.

पूंजीवादी कंपनियों की सापेक्ष सहकारिताओं का पूंजी-आधार सीमित होता है. हालांकि केंद्रीय बाजार, सुपरबाजार जैसी बड़ी उपभोक्ता सहकारिताएं भी अस्तित्व में आई, परंतु किसी न किसी रूप में वे सरकारी मदद पर आश्रित रही हैं. स्वयंस्फूर्त भावना के साथ बनने वाली बड़ी उपभोक्ता सहकारिताएं हमारे यहां कम ही हैं. सरकार द्वारा नियंत्रित सहकारिताओं की कमी होती है कि वे बाजार की गति को पहचानकर तत्कालिक निर्णय लेने में असमर्थ होती हैं. इसलिए उनके संचालन में व्यावसायिक संगठन के संचालन के आवश्यक लचीलापन नहीं आ पाता. अतएव उपभोक्ता सहकारिता आंदोलन के स्थायित्व के लिए आवश्यक है, कि उनका संचालन पेशेवराना अंदाज में किया जाए. उनसे ऐसे लोगों को जोड़ा जाए जो पेशेवर समझ रखते हों. साथ ही बाजार में दूरगामी महत्त्व की योजनाएं बनाई जाएं तथा उन्हें निश्चित समयसीमा में पूरा करने के लिए उनसे अधिक से अधिक लोगों को स्वयंस्फूर्त भावना के साथ जोड़ा जाए.

2. ब्रांडीकरण

ब्रांड लोगों की चयन-संबंधी मुश्किल को आसान करता है. ब्रांडीकरण का अभिप्राय किसी उत्पाद को उसके विशिष्ट नाम एवं पहचान सहित उपभोक्ताओं के बीच स्थापित करना है. बाजार में अपनी पहचान स्थापित कर चुके ब्रांड को उपभोक्ता आसानी से अपना लेता है, उसके लिए दुकानदार की विश्वसनीयता आवश्यक नहीं होती. भारत में ऑनलाइन बढ़ता बाजार ब्रांडीकरण की ही देन है. क्योंकि वहां खरीदारी के समय वस्तु ग्राहक के समक्ष नहीं होती. वह उत्पादक के नाम तथा उल्लिखित विशेषताओं के आधार पर उत्पाद के बारे में अपना निर्णय लेता है. बहुराष्ट्रीय निगमों की व्यावसायिक नीतियां ब्रांड की स्थापना पर टिकी होती हैं. बाजार में एक बार ब्रांड की धाक जम जाने के बाद उसके साथ दूसरे उत्पादों की शृंखला को भी आसानी से उतारा जा सकता है. एक ही उत्पाद के अनेक ब्रांड हो सकते हैं, कई बार एक ही कंपनी गुणवत्ता में थोड़ी फेरबदल कर बाजार में एकाधिक ब्रांड उत्पाद उतार देती है. इससे अनेक रुचियों, क्रय सामर्थ्य वाले उपभोक्ताओं तक उत्पाद की पहुंच बना पाना संभव होता है. कालगेट, लक्स, फेयर एंड लवली, डालडा, अमूल आदि बाजार के स्थापित ब्रांड हैं. कई बार कंपनी ही ग्राहकों के बीच अपनी विश्वसनीयता कायम कर लेती है, ऐसी स्थिति में वह जो भी उत्पाद बाजार में उतारती है, वह उसके नाम के साथ आसानी से अपनी जगह बना लेता है. रिलायंस, डाबर, टाटा, आदि जहां बड़ी भारतीय बहुराष्ट्रीय कंपनियों के नाम हैं, वहीं ये स्थापित ब्रांड भी हैं. कभी-कभी यह भी होता है कि ब्रांड किसी व्यक्ति या संस्था के आदर्शों से जुड़कर समाज के बीच अपनी विश्वसनीयता हासिल कर लेता है. खादी इसका उदाहरण है. सूती वस्त्रों के लिए खादी का उपयोग भारतीय गांवों में अर्से से किया जाता रहा है, लेकिन विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के समय महात्मा गांधी द्वारा खादी का उपयोग सूती वस्त्रों की गुणवत्ता के साथ स्वावलंबन एवं आत्मनिर्भरता का प्रतीक मान लिया गया, कमोबेश उसकी यही प्रतिष्ठा आज भी बनी हुई है.

उपभोक्ता सहकारिताओं को समाज में पुनर्स्थापित होने और दीर्घकालिक उपस्थिति बनाए रखने के लिए ब्रांडीकरण की महत्ता को स्वीकारना ही होगा. लेकिन ब्रांड की स्थापना के समय सहकारिताओं को सावधान रहना पड़ेगा. उत्पादन-विपणन की परंपरागत नीति में लोगों की आवश्यकताओं को पहचानकर उसके अनुरूप उत्पाद की अभिकल्पना की जाती थी. लेकिन कम समय में अधिक मुनाफे के लालच में, अथवा बाजार में अपना एकाधिकार बनाए रखने के लिए पूंजीवादी कंपनियां पहले उत्पाद की अभिकल्पना करती हैं, बाद में उसके लिए जरूरत पैदा करने का काम करती हैं. यह काम हालांकि काफी कठिन है, लेकिन घर-घर में पैठ बना चुका मीडिया पूंजीवादी कंपनियों के मनसूबों को पूरा करने में खास भूमिका निभाता है. उदाहरण के रूप में हम पानमसाला को ले सकते हैं. उसकी संकल्पना के पीछे कोई सामाजिक लाभ की भावना नहीं थी. उल्टे स्वास्थ्य की हानि होती है. किंतु कम निवेश, सरल तकनीक तथा उच्चतम लाभ-संभाव्यता जैसे कारण हैं, जिससे यह उत्पादकों को ललचाता था. उत्पाद की अभिकल्पना के बाद उसके लिए बाजार का अभिरचना की गई. सघन विज्ञापन के माध्यम से उसके उपयोग को मस्ती, फुर्ती, और

सामाजिक प्रतिष्ठा आदि से जोड़कर उसकी आवश्यकता पैदा की गई. आज पानमसाला के ही दर्जनों ब्रांड बाजार में उपलब्ध हैं. ऐसे ही बोतलबंद पानी के ब्रांडीकरण को ले सकते हैं. आज से पचीस-तीस वर्ष पहले तक बोतलबंद पानी के बारे में शायद सोचना भी संभव नहीं था। विशेषकर भारत जैसे देश में. जहां उत्तर से दक्षिण तक सदानीरा नदियां बहती हों. लेकिन जलप्रदूषण को आधार बनाते हुए, प्राकृतिक रूप में उपलब्ध पानी को संदेह के दायरे में लाकर तथा स्वास्थ्य को केंद्र में रखते हुए बोतलबंद पानी को स्थापित करने का काम किया गया. आज 'बिसलेरी' नामक ब्रांड बोतलबंद पानी का पर्याय बन चुका है. अब खबर है कि बोतलबंद पानी बेचने वाली बड़ी कंपनियां सुगंधित जल के रूप में एक नए उत्पाद को बाजार में लाने के लिए योजना बना रही है. उसके लिए विज्ञापन नीति पर काम चल रहा है. तय है कि सुगंधित जल की अवधारणा को उपभोक्ताओं के मानस में स्थापित करने के लिए स्वास्थ्य, प्रफुल्लता, संपन्नता आदि को आधार बनाया जाएगा.

उपभोक्ता सहकारिताएं ब्रांडीकरण को महत्त्व दें, लेकिन उनके उत्पाद मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुरूप होने चाहिए. पहले लाभप्रद उत्पाद की अभिकल्पना फिर उसके लिए जरूरतों की खोज की नीति उपभोक्ता सहकारिताओं के लिए कारगर नहीं हो सकती. क्योंकि वहां उपभोक्ता एवं विक्रेता एक ही हैं, वही उसके निवेशक भी हैं और लाभ-हानि के समान साझीदार भी. हालांकि यहां भी एक पेच है, हर नया उत्पाद जो बाजार में अपनी पहचान बनाने में सफल रहता है, कालांतर में वह लोगों की आवश्यकता भी बन जाता है. नए ब्रांडों की खोज के कार्य की पूरी तरह उपेक्षा करने पर उपभोक्ता सहकारिताएं विकास की दौड़ में पिछड़ भी सकती हैं. अतएव नए उत्पादों के अभिकल्पन तथा उनके लिए आवश्यकताओं के निर्माण के कार्यक्रम को पूरी तरह तिलांजलि नहीं दी सकती. विश्वसनीयता और प्रगतिशीलता के बीच तालमेल बनाए रखने के लिए आवश्यक होगा कि सहकारिताएं उन्हीं उत्पादों के ब्रांडीकरण एवं अभिकल्पन तक स्वयं को सीमित रखें, जो बहुसंख्यक वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का सामर्थ्य रखते हों तथा जिनसे आर्थिक एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार के लाभों की सिद्धि होती हो.

3. विश्वसनीयता

पिछले किसी की समय की अपेक्षा आज का उपभोक्ता पहले से कहीं अधिक सजग है. सरकार एवं गैरसरकारी कई ऐसी संस्थाएं हैं जो उसके अधिकारों के लिए सरंक्षण के लिए समर्पित हैं. अतः आधुनिक उपभोक्ता को मूर्ख बना पाना आसान नहीं है. विशेषकर बाजार के बीच जहां उसके पास चयन के लिए अनेक विकल्प मौजूद होते हैं. अतः उपभोक्ता सहकारिताओं की सामाजिक पहचान बनाने के लिए आवश्यक है कि उनके उत्पाद लोगों के विश्वास को जीतने में समर्थ हों. इसके लिए उत्पाद की गुणवत्ता, उचित मूल्य, पूरी तौल तथा समय पर माल की उपलब्धता आदि कुछ सामान्य-सी शर्तें हैं, जिनपर चलकर उपभोक्ता के विश्वास को जीता जा सकता है. एक बार उपभोक्ता का विश्वास जीत लेने के बाद बाजार में प्रतिष्ठा तो बढ़ती ही है, भावी योजनाओं पर अमल करना भी आसान हो जाता है. इस संबंध में रोशडेल पायनियर्स से भी प्रेरणा ली जाती है. हॉल्यॉकी ने अपनी पुस्तक में एक घटना का उल्लेख किया है–

लंदन की एक शाम, कड़कड़ाती ठंड...सिर से पांव तक मोटे लबादे में लिपटी एक बुढ़िया स्टोर की ओर दौड़ी चली आ रही थी. चाहती थी कि स्टोर का दरवाजा बंद हो, उससे पहले ही वहां जा धमके. रास्ते में कई दुकानें पड़ीं। चिढ़े हुए दुकानदार बुढ़िया को लालची कहकर उसपर अपनी खिसियाहट फेंकते रहे–

'दो पाउंड मांस तो तोलना.' कहते हुए बुढ़िया के मुंह से गर्म हवा निकली जो बाहर आते ही झट से वर्फ के धुंए में बदल गई.

'मांस तो बिक चुका मैडम!' काउंडर पर तैनात कर्मचारी ने अपनी शर्मिंदगी प्रकट की.

'बिक गया, ओह! लेकिन मुझे तो घर में बीमार को खिलाना है.'

'सॉरी मैडम! मुझे दुःख है कि मैं आपकी कोई मदद नहीं कर सकता.' बुढ़िया ने बड़बड़ाते हुए उस डॉक्टर को दो-चार गालियां सुनाई, जिसने बीमार को मांस खिलाने की सलाह दी थी. अपने कदमों को जबरदस्ती खींचती वह बाजार में पहुंची. वहां से मांस के दो पैकेट तुलवाए. पहला एक पाउंड का तथा दूसरा आधे पाउंड का.

'जरूर कुछ गड़बड़ है?' पैकेट हाथ में लेते हुए बुढ़िया ने सोचा. घर पहुंचते ही उसने अपनी बेटी को तराजू लाने का निर्देश दिया। दोनों पैकेट तौलकर देखे तो बड़ा पैकेट दो ओंस कम था. छोटे में दुकानदार ने एक ओंस की घटतौली की थी. बुढ़िया ने खीझते हुए दो गालियां भंडार के संचालकों भी दीं, जिन्होंने उस दिन मांस का कोटा जल्दी बेच दिया था.

विश्वसनीयता प्राप्त करना कोई आसान काम नहीं है. न यह किसी एक दिन का काम है. बल्कि इसके लिए लोगों के बीच जाकर अपनी विश्वसनीयता सिद्ध करनी पड़ती है. अपने विपुल पूंजी-सामर्थ्य के दम पर बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपनी विश्वसनीयता सिद्ध करने के लिए मीडिया का सहारा लेती हैं. वैज्ञानिक दावों और शोध के सहारे उपभोक्ता के मानस पर छा जाना चाहती हैं. उपभोक्ता सहकारिताएं भी इन माध्यमों का

सहारा ले सकती हैं. लेकिन इससे भी आसान है कि अपने सदस्यों के बीच उत्पाद की विश्वसनीयता बनाए रखकर सदस्य संख्या के विस्तार पर नियमित रूप से कार्य किया जाए. ध्यान रहे कि भारत में पांचवे-छठे दशक के बीच उपभोक्ता सहकारिताओं को मिली भारी सफलता का कारण भी उपभोक्ताओं के बीच उनकी सहज स्वीकार्यता ही थी.

अपनत्व की भावना

किसी भी सहकारी संगठन की कार्यक्षमता एवं उसका स्थायित्व उसके सदस्यों की एकता एवं एकजुटता पर भी निर्भर करता है. सहकारिता की खूबी भी यही है कि यह 'मैं' की सीमा को 'हम' के रूप में असीमित कर देती है. 'हम' में विस्तार की अनंत संभावनाएं हैं. अतएव उपभोक्ता सहकारिताओं को अपनी विकास की रणनीति ऐसी बनानी होगी कि उसके प्रत्येक सदस्य संगठन की प्रत्येक गतिविधि और कार्यक्रम के साथ अपनत्व की अनुभूति होने लगे. उसे यह विश्वास हो जाए कि संगठन और वे अलग-अलग नहीं हैं, संगठन को होने वाला लाभ उनका अपना लाभ है. हानि होने पर उसके वे सपने धराशायी हो सकते हैं, जो उसने संगठन से जुड़ते समय देखे थे. हॉल्याकी ने रोशडेल पायनियर्स के संदर्भ में एक घटना का उल्लेख किया है–

एक स्त्री के घर से भंडार काफी दूर था। अपनी छोटी-मोटी जरूरतों के लिए वह अपने बेटे को भंडार तक भेज देती थी। रास्ते में कई दुकानें पड़ती थीं। उनपर मौजूद दुकानदार उस बच्चे को प्रलोभन भी देते थे। बच्चा हैरान था, एक दिन मां से पूछ बैठा–'मां, तुम मुझे रोज उस बुनकरों की दुकान पर ही क्यों भेजती हो? घर के निकट और भी तो दुकानें हैं, उससे भी बड़ी...वहां बैठे दुकानदार भी भलेमानस दिखते हैं।'

'जानती हूं बेटा! पर बुनकरों की दुकान पर हुए मुनाफे का एक हिस्सा हमारे घर भी आता है!' बेटा समझ गया. उस दिन के बाद वह बिना कहे बुनकरों की दुकान पर जाने लगा।

सदस्यों में अपनत्व की भावना का संचार उन्हें संगठन की निर्णय प्रक्रिया से जोड़कर, अधिलाभ वितरण की पारदर्शी नीति अपनाकर तथा उनके सुख-दुख को पहचानकर उनके साथ सामूहिक भागीदारी करके प्राप्त किया जा सकता है. इसके लिए उपभोक्ता सहकारिताओं को अपने संगठन का विस्तार आधारभूत स्तर तक करना होगा. अपनत्व की भावना सहकारिता के प्रति गंभीर समझ के बिना भी संभव नहीं है. इसके लिए उन्हें ग्रामीण एवं कस्बाई स्तर पर सहकारिता प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाने होंगे.

परंपरागत शिल्पकारों, पेशेवरों को लेकर संगठन निर्माण

मॉल संस्कृति ने भारत के परंपरागत शिल्पकारों, दुकानदारों, फेरी वालों के सामने उनके अस्तित्व का संकट पैदा कर दिया है. उनके हाथों से रोजगार से अवसर छीनकर बड़ी कंपनियों के पास जा रहे हैं. माल संस्कृति के प्रति उन लोगों के मन में आक्रोश भरा है. उपभोक्ता सहकारिताएं उनके आक्रोश, जनशक्ति और पहुंच का जितना उपयोग कर पाएंगी, उनका भावी स्वरूप इसी से निर्धारित होगा. उपभोक्ता सहकारिता के रणनीतिकारों को चाहिए कि वे गांव-गांव कस्बे-कस्बे जाकर छोटे दुकानदारों, फेरीवालों, किसानों, परंपरागत शिल्पकारों को ग्रामीण क्षेत्रों में माल्स संस्कृति के विस्तार से समाज पर पड़ने वाले प्रभावों से अवगत कराएं. उन्हें लेकर स्थानीय स्तर पर छोटे-छोटे संगठन बनाए जाएं. उन संगठनों को शोध, बाजार प्रबंधन, उत्पादन, विपणन, आदि की जिम्मेदारी सौंपी जाए. अलग-अलग होकर भी वह संगठन एक वृहद सहकारिता का हिस्सा हों. उनमें एकत्व की भावना हो और यह एहसास भी हो कि उनके हित आपस में एकजुट रहने में हैं. अभी तक भारत में सहकारिता आंदोलन सरकार द्वारा समर्थित रहा है. आगे भी वह सरकार के समर्थन पर चले इसमें कोई बुराई नहीं है. किंतु सरकार की भूमिका केवल उत्प्रेरक की होनी चाहिए. ग्रामीण सहकारिताएं जितनी आत्मनिर्भर एवं स्वयं स्फूर्त होंगी, उनकी सफलता की संभावना उतनी ही अधिक होगी.

समग्र सहकारिता आंदोलन को प्रोत्साहन/प्रशिक्षण

पिछले दिनों उत्तरप्रदेश सरकार ने कांट्रेक्ट खेती की अनुमति दी. लेकिन बहुत जल्दी वह इसके खतरों को समझ गई और कानून पर अमल होने से पहले ही लगभग एक सप्ताह के भीतर वापस ले लिया गया. कांट्रेक्ट खेती के अंतर्गत बड़ी पूंजीवादी कंपनियां और किसान मिलकर करार कर सकते हैं. कांट्रेक्ट खेती की व्यवस्था के अनुसार कंपनियों की पूंजी से किसान उनकी पसंद की फसल की बुवाई करता है. फसल पकने के बाद पूंजीपति उसे बाजार दाम से कम से दस प्रतिशत अधिक मूल्य पर किसान से खरीद लेगा. इस प्रणाली के खतरे बेशुमार हैं. जिनमें सबसे बड़ा खतरा किसान के हाथ से उसकी जमीन चले जाने का भी है. जिन राज्यों में कांट्रेक्ट खेती को मंजूरी है, वहां भी सफल नहीं हो पा रही है. किसान

मुख्यतः पूंजी अभाव के कारण कांट्रेक्ट खेती की अपनाते हैं. गांवों में कृषि जोतों के सिकुड़ते जाने के कारण वैसे भी किसानों के पास उतनी जमीन नहीं है कि वे साल भर उसकी उपज पर निर्भर रह सकें. मजबूरी में वे या तो नौकरी करने को विवश होते हैं, अथवा कांट्रेक्ट खेती के रूप में पूंजीपतियों और उनके दलालों के हाथों का खिलौना बन जाते हैं. इसलिए आवश्यक है कि सहकारी खेती को प्रोत्साहन दिया जाए. भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था अभी भी कृषि पर आधारित है, लेकिन जोतों के सिकुड़ने से खेती करना बहुत लाभकारी नहीं रहा है. अतएव आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण और स्थानीय बाजार की संभावनाओं का आकलन करते हुए उपभोक्ता सहकारिताएं गांवों में जाकर कृषि-आधारित एवं वैकल्पिक उद्योगों को बढ़ावा देने का कार्य करें. किसान संगठनों, दुकानदारों, शिल्पकारों, फेरीवालों, सेवाकर्मियों को सहकारी संगठनों, स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से परस्पर जोड़ा जाए. दूसरे शब्दों में गांवों में उत्पादन के जितने भी रूप हैं, वे सभी उन अपने-अपने समूह के साथ वृहद ग्रामीण सहकारिताओं का हिस्सा हों. जिनमें उत्पादक सहकारिताएं उत्पादन एवं उपभोक्ता सहकारिताएं उस उत्पाद को गांव, कस्बों और शहर तक ले जाने का वीणा उठाएं.

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि उपभोक्ता सहकारिताएं आज की आवश्यकता हैं. मॉल्स संस्कृति के अनियंत्रित विस्तार को रोकने तथा प्रगतिशीलता को बनाए रखने के लिए उनकी उपयोगिता पहले से कहीं भी अधिक आज है. लेकिन परिवर्तन के इस दौर में अपनी निर्णायक भूमिका निभाने के लिए उन्हें व्यापक कार्ययोजना पर अमल करना होगा. समाज को आत्मनिर्भर एवं स्वावलंबी बनाने वाले राष्ट्रहित के इस कार्य में समाजविज्ञानियों, लेखकों और पत्रकारों के साथ मजदूरों, शिल्पकारों, बेरोजगारों, छोटे दुकानदारों की भूमिका समान महत्त्व रखती है. 1943 के ग्रीष्मकाल में प्रसिद्ध उपन्यासकार चार्ल्स डिकन्स ने लंकाशायर की मजदूर बस्तियों की दुर्दशा देखने के बाद आहत मन से मजदूरों की एक सभा को संबोधित करते हुए कहा था कि यदि वे वास्तव में परिवर्तन को उत्सुक हैं तो अपने दिल और दिमाग खुले रखें. उनका आशय दुर्दशा के कारणों को समझने तथा परस्पर मिलकर उसका उपचार ढूंढने से था. वैसी ही आवश्यकता आज भारतीय समाज में है. हमें चाहिए कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दबाव से बावजूद अपने दिल और दिमाग को खुला रखें और सहयोगाधारित उपभोक्ता संगठनों के माध्यम से उनकी रोकथाम के लिए उपयुक्त व्यवस्था करें. स्मरण रखें कि लोग यदि चेतना संपन्न होगें तो वे स्वयं संगठित होते जाएंगे.

M- 09868206548/ E' mail : opkaashyap@indiatimes.com

1. ...from all around came reports of weavers clothed in rags, who had sold all their furniture, who worked 16 hours a day yet lived on a diet of oatmeal, potatoes, onion porridge and treacle" E. P. Thompson, The Making of the English Working Class, (Penguin, Harmondsworth, 1968)- **as quoted in Johnston Birchall, Co-op: The People's Business [Manchester University Press, Manchester, UK, 1994), p. 34].**

2. ...to give birth standing up, their arms round two other women, because they had no change of bedclothing; the very people who had spent their lives weaving clothes and blankets for the world had come down to this, rags on their backs and no blankets on their beds" **Birchall, pp. 35-37.**

3. **These evils may be cured: and the remedy is in our own hands. The remedy is CO-OPERATION. King, Dr William, 1786-1865.**